ISSN 0973-8568

# मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

वर्ष 6 जनवरी-जून 2008 अंक 1

सम्पादक

रामसखा गौतम

सह-सम्पादक

आशीष भट्ट


## मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली एवं उच्च शिक्षा मंत्रालय, मध्यप्रदेश शासन, भोपाल का स्वायत्त शोध संस्थान

उज्जैन - 456 010 (म.प्र.)

# मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

(मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)

वर्ष 6 | जनवरी-जून 2008 | अंक 1

## अनुक्रमणिका


विश्वविद्यालय, संविधान और असहमति का अधिकार — 1

*उमरावसिंह चौधरी*

सर्वोच्च न्यायालय की दिशाः मौलिक संरचना सिद्धान्त से न्यायिक विधायन की ओर — 5

*जयकुमार मिश्रा*

सौहार्द्रपूर्ण सामाजिक न्याय की गाँधी वैचारिकी — 18

*तूलिका पाण्डेय*

भूमण्डलीकृत इंडिया और भारत का अंतर्द्वन्द्व — 26

*अमित कुमार सिंह*

जयप्रकाश नारायण एवं गाँधीवादी सर्वोदयी आग्रह — 52

*प्रीति व्यास*

सामाजिक न्याय एवं आरक्षण की राजनीति — 71

*दिनेश कुमार गेहलोत एवं नगेन्द्रसिंह भाटी*

भारतीय परिप्रेक्ष्य में विशेष आर्थिक क्षेत्र — 77

*मुकेश पाटीदार*

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
वर्ष 6, अंक 1, 2008, पृ. 5–17

# सर्वोच्च न्यायालय की दिशा - मौलिक संरचना सिद्धान्त से न्यायिक विधायन की ओर

जयकुमार मिश्रा

संविधान किसी भी देश का एक ऐसा प्रलेख होता है जिसमें नागरिकों की आकांक्षाओं को ध्वनि मिलने के साथ-साथ नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों, नागरिकों के राज्य के साथ सम्बन्धों और शासन के विभिन्न अंगों के बीच सम्बन्धों का विशद् विवेचन होता है। संविधान सदैव जीवन्त और प्रवाहमान बना रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह सामाजिक परिस्थितियों एवं जनता की आशाओं-आवश्यकताओं में निरन्तर परिवर्तन के साथ स्वयं को भी परिवर्तित एवं समायोजित करता रहे, अन्यथा उसकी प्रासंगिकता एवं उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लग जायेगा। यह प्रश्नचिन्ह न लगे एवं संविधान और 'समय' का सामंजस्य बना रहे इसके लिए प्रत्येक संविधान में संशोधन के प्रावधान रखे जाते हैं। भारत का संविधान भी इन सभी बातों का ध्यान रखते हुए अनुच्छेद-368 में संशोधन की प्रक्रिया एवं शक्ति का उल्लेख करता है।

संविधान संशोधन को लेकर जो भी बौद्धिक संवाद तथा विधिक वाद-विवाद उपस्थित हुए, उनमें यह प्रश्न बार-बार उठता रहा है कि संसद की संविधान संशोधन शक्ति की सीमाएँ एवं परिधि क्या हैं? यह प्रश्न इस बात पर निर्भर करता है कि हम 'संशोधन' शब्द का क्या अर्थ लेते हैं। मौलिक अधिकारों तथा संविधान संशोधन को लेकर जो विवाद न्यायालय में संविधान लागू होने के बाद के दो दशकों के बीच आए, उनमें यह तर्क दिया गया कि संसद की

संविधान संशोधन की शक्ति के दायरे में सम्पूर्ण संविधान का पूरी तरह निराकरण करके उसके स्थान पर बिल्कुल नया संविधान बनाने की शक्ति भी निहित है। न्यायमूर्ति हंसराज खन्ना का विचार है कि संविधान के संशोधन का आशय यह है कि पुराने संविधान का मूल स्वरूप कायम रहे तथा उसमें परिस्थितिजन्य कुछ परिवर्तन किया जाये। संशोधन की शक्ति के अन्तर्गत संविधान में बड़े से बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तन करने तथा युग की दशाओं एवं आवश्यकताओं को देखते हुए शासन व्यवस्था में अपेक्षित परिवर्तन करने की अनुमति है किन्तु संविधान की बुनियाद को तथा उसके आधारभूत सांस्थानिक स्वरूप को हाथ लगाने की अनुमति नहीं है। अनुच्छेद-368 का ऐसा अर्थ नहीं लगाया जा सकता, जिससे कि वह स्वयं संविधान को ही समाप्त करने का साधन बन जाय। क्राफोर्ड ने *'द कन्स्ट्रक्शन ऑफ स्टैच्यूट्स'* में लिखा है कि, जब किसी कानून को पूर्णतः या अंशतः यथापूर्व रखते हुए उसमें कोई प्रावधान घटा या बढ़ा दिया जाय या उसमें कोई परिवर्तन कर दिया जाय, जिसका उद्देश्य उसे और भी पूर्ण, त्रुटिहीन या प्रभावशाली बनाना हो, तो उसे उस कानून के 'संशोधन' की संज्ञा दी जाती है लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी भी कानून में संशोधन करना तथा उसे रद्द करना एक ही बात नहीं है। इस प्रसंग में सदरलैण्ड का कहना है कि, किसी वर्तमान कानून की व्यापकता या उसके प्रभाव में उसके उपबन्धों को बढ़ाकर, घटाकर या बदलकर किये गये वे सभी परिवर्तन 'संशोधन' हैं, जिनके फलस्वरूप उस कानून का अस्तित्व पूरी तरह समाप्त नहीं होता है, फिर चाहे यह संशोधन निराकरण या पुनरीक्षण आदि सीमित उद्देश्य के लिए कोई अधिनियम लाकर किये गये हों या एक सर्वथा स्वतन्त्र व मौलिक अधिनियम के द्वारा किये गये हों।[1]

24 अप्रैल, 1973 को सर्वोच्च न्यायालय ने केशवानन्द भारती बनाम भारत संघ[2] के वाद में 7:6 के बहुमत से निर्णय देते हुए कहा कि, अनुच्छेद-368 में वर्णित संशोधन शक्ति अत्यन्त व्यापक है तथा संसद संविधान में कोई भी संशोधन करने के लिए सक्षम है, वह मूल अधिकारों में भी कोई संशोधन कर सकती है किन्तु संसद कोई ऐसा संशोधन नहीं कर सकती जो संविधान की मूल संरचना को अथवा उसके मूलभूत तत्वों को अथवा उसके बुनियादी ढांचे को ही नष्ट करता हो। इस वाद में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि, संसद के सदस्य पद ग्रहण करते समय संविधान के परिरक्षण एवं संरक्षण की शपथ लेते हैं और संविधान में वांछनीय 'संशोधन' करने के लिए सक्षम हैं लेकिन 'संशोधन' शब्द का प्रयोग संविधान की निरन्तरता को भंग करने के क्रम में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इस वाद में न्यायाधीश खन्ना ने कहा था कि, 'संविधान' सार्वजनिक जीवन को व्यवस्थित रखने का साधन है, भूतकाल में

उसकी जड़े हैं, वर्तमान में उसके बने रहने का प्रतिबिम्ब है और उसे एक अज्ञात और अनिश्चित भविष्य के लिए ही बनाया गया है।[3]

संविधान संशोधन की असीम शक्ति का दावा इस तर्क के आधार पर किया जाता रहा है कि संसद जनता द्वारा निर्वाचित होने के कारण जनाकांक्षाओं की सर्वोच्च लोकतान्त्रिक अभिव्यक्ति है। जनप्रतिनिधियों की शक्ति को सीमित मानना वस्तुतः जनता की शक्ति को सीमित मानना है। सम्पत्ति के अधिकार के प्रश्न पर संविधान निर्मात्री सभा में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि, "कोई सर्वोच्च न्यायालय अथवा कोई भी न्यायपालिका संसद की सम्प्रभु इच्छा को स्वयं के विचाराधीन नहीं बना सकती। संसद सम्पूर्ण देश की इच्छा का प्रतीक है... सम्पूर्ण संविधान संसद की कृति है। न्यायाधीशों का कार्य यह देखना है कि कुछ ऐसा न कर दिया जाय जो संविधान के प्रतिकूल हो अथवा व्यापक अर्थों में समाज के हितों के प्रतिकूल हो अथवा देश के कल्याण के प्रतिकूल हो।"[4] पण्डित नेहरू ने यह भी स्पष्ट किया कि, न्यायालय को सार्वजनिक कल्याण के परिप्रेक्ष्य में अधिनियमों पर पुनर्विचार करना है। यह बात समझ में नहीं आती कि, सार्वजनिक कल्याण की व्याख्याता संसद है या न्यायपालिका। यदि दो संस्थाएँ सार्वजनिक कल्याण की व्याख्या कर रही हैं तो इस बात की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि दोनों की व्याख्याएँ एक-दूसरे से भिन्न भी हो सकती हैं तब ऐसी दशा में किसकी व्याख्या स्वीकार की जाएगी - संसद की या सर्वोच्च न्यायालय की। पण्डित नेहरू के अनुसार ऐसी दशा में संसद सर्वोच्च है और सामाजिक सुधारों को क्रियान्वित करने के लिए संसद द्वारा बनाये गये कानूनों में न्यायाधीशों का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। यदि हस्तक्षेप किया गया तो पण्डित नेहरू ने चेतावनी दी थी कि या तो संविधान को बदला जा सकता है, या न्यायपालिका में ऐसे न्यायाधीशों को नियुक्त किया जा सकता है जो सरकार के मनोनुकूल हों। बाद में, आगे चलकर जब उनकी पुत्री इन्दिरा गाँधी प्रधानमन्त्री बनीं तो उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पद पर ए.एन. रे को नियुक्त किया तथा उनसे वरिष्ठ न्यायाधीश शैलेट, हेगड़े तथा ग्रोवर की वरिष्ठता की उपेक्षा कर दी। ऐसा करने में उन्होंने भी वही तर्क दिया जो पण्डित नेहरू ने दिया था।

यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि एकमात्र संसद ही जनता की इच्छाओं को प्रतिबिम्बित करती है, क्योंकि प्रतिनिधि तो एक निश्चित समय के लिए चुने जाते हैं। लेकिन संविधान संशोधन संविधान का स्थायी अंग बन जाता है। इसलिए एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित प्रतिनिधियों को संविधान में मूलभूत परिवर्तन करने का अधिकार नहीं दिया जाना

चाहिए। संविधान में संशोधन का आकार और अधिकार एक निश्चित सीमा के बाहर नहीं होना चाहिए। राजनीतिक जीवन में सामान्य जन की मानसिकता पर बहुत सारे दबाव दिखाई देते हैं। इसलिए यह सम्भव है कि जनता अपने निर्णय से अपनी स्वतन्त्रता एवं अपने गणतान्त्रिक-लोकतान्त्रिक ढाँचे को समाप्त करने की माँग शुरू कर दे। इस प्रकार के जन निर्णयों तथा उनके प्रभाव में आकर बनाये गये कानूनों को यदि न्यायपालिका अवैध घोषित कर दे तो क्या इसे न्यायपालिका का विधायिका के कार्यों में हस्तक्षेप माना जायेगा? संविधान में संशोधन करने की शक्ति एवं क्षमता के दुरुपयोग की सम्भावनाएँ काल्पनिक नहीं हैं। 39वें संविधान संशोधन का प्रावधान तथा 42वें संविधान संशोधन में छिपी महत्वाकांक्षाएँ इस सम्भावना को बल प्रदान करती हैं। वस्तुतः भारतीय राजनीति के चरित्र को देखते हुए संविधान संशोधन की शक्ति को असीमित मानना आत्मघाती एवं विनाशकारी होगा।

संविधान के दुरुपयोग की चर्चा इसलिए की गयी है जिससे कि यह सुनिश्चित किया जा सके कि संशोधन शक्ति पर सीमाएँ होनी चाहिए। चूँकि संविधान निर्माताओं ने संशोधन शक्ति पर कोई स्पष्ट परिसीमा नहीं लगाई, इससे कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका ने यह मान लिया था कि संशोधन शक्ति पर कोई सीमा ही नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि नागरिकों के मूल अधिकार, लोकतान्त्रिक मानदण्ड तथा संवैधानिक मूल्य खतरे में पड़ गये, परन्तु यह खतरा जड़ जमाये उसके पूर्व ही सर्वोच्च न्यायालय ने (जिसे संविधान निर्माताओं ने संविधान का व्याख्याता एवं संरक्षक माना है) केशवानन्द भारती वाद में, संविधान संशोधन पर सीमा के रूप में 'संविधान की मौलिक संरचना' का निर्णय देकर न केवल एक वैधानिक तथ्य का प्रतिपादन किया, बल्कि एक राजनीतिक कसौटी भी दे दी। एक अल्प राजनीतिक चेतना वाले समाज में न्यायालय द्वारा निर्धारित मापदण्ड ही वहाँ की कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका को सीमाओं में रख सकता है। यद्यपि मौलिक संरचना सिद्धान्त की आलोचना की जा सकती है किन्तु व्यावहारिक राजनीतिक अनुभव यह बताता है कि मौलिक संरचना की अवधारणा वह धुरी है, जो हमारे राजनीतिक और संवैधानिक जीवन को स्थिरता प्रदान करती है और साथ ही यह अवधारणा एक ऐसा केन्द्र है जो हमारे सामाजिक और आर्थिक प्रगति के कानूनों का मार्गदर्शन भी कर सकती है। प्रगतिशील एवं समयानुकूल अधिनियमों/ कानूनों का यह उद्देश्य नहीं होता कि वे उपलब्ध संवैधानिक-राजनीतिक आदर्शों/मूल्यों को नष्ट करते रहें। कुल मिलाकर मौलिक संरचना के उपकरण न तो सामाजिक अधिनियमों के प्रतिकूल हैं और न ही किसी सभ्य, स्वतन्त्र एवं उन्नत राजनीतिक समाज में इनकी अवहेलना ही की जा सकती है।

संसद की संशोधन शक्ति की क्षमता पर मौलिक संरचना का सिद्धान्त एक प्रभावी एवं स्पष्ट सीमा आरोपित करता है। वस्तुतः इस सीमा का निर्धारण परिस्थितिजन्य निर्णय था। तत्कालीन कार्यपालिका (श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में) व्यवस्थापिका में अपने बहुमत का प्रयोग अविवेकपूर्ण ढंग से संविधान में मनमाने संशोधन करने में कर रही थी, इन संशोधनों का जनहित से कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसी दशा में सर्वोच्च न्यायालय ने संशोधनों की गति रोककर संविधान की गरिमा को सुरक्षित रखने का सफल व सार्थक प्रयास किया। संसद की संशोधन शक्ति का सीमांकन सर्वोच्च न्यायालय की एक विशिष्ट उपलब्धि है। संविधान की मूल संरचना या मौलिक ढाँचे का तात्पर्य उन आधारभूत संवैधानिक मूल्यों से हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए ही हमने संविधान का निर्माण किया है। वे मूल्य हमारी संवैधानिक यात्रा के लक्ष्य हैं, इस लक्ष्य तक पहुँचना ही हमारी राजनीतिक व्यवस्था का अभिष्ट है। यदि ये मूल्यरूपी लक्ष्य समाप्त हो जायेंगे, तब हमारी लोकतान्त्रिक यात्रा पथ से भटक जाएगी और जब लोकतन्त्र ही भटक जायेगा तो मूल अधिकार, व्यक्ति की गरिमा जैसी बातें थोथी व निरर्थक हो जायेंगी। यह स्थिति अराजकता की होगी। सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून या संविधान संशोधन का संवैधानिक पुनरीक्षण कर सकता है और यदि वह संविधान की मौलिक संरचना के प्रतिकूल है तो उसे रद्द घोषित कर सकता है।

संविधान निर्माताओं ने सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों को सीमित रखना चाहा था किन्तु संसद की शक्तियों पर वे किसी प्रकार की कोई सीमा आरोपित नहीं करना चाहते थे। इसलिए अमेरिकी संविधान में निहित 'विधि की उचित प्रक्रिया' के स्थान पर उन्होंने जापान के संविधान में वर्णित 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' शब्दावली को ग्रहण किया। लगभग दो दशकों तक सर्वोच्च न्यायालय ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया, किन्तु सर्वोच्च न्यायालय के ऊपर संविधान की रक्षा का दायित्व भी है। इस दायित्व के उचित निर्वहन तथा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की दिशा को देखते हुए संविधान संशोधन की असीमित शक्ति में निहित संसदीय सर्वोच्चता के तर्क को सर्वोच्च न्यायालय ने अस्वीकार कर दिया। कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की मौलिक संरचना के सिद्धान्त के सहारे संसदीय वर्चस्व के भ्रमजाल को तोड़ दिया। संविधान संशोधन की सीमा के रूप में मौलिक संरचना का सिद्धान्त इतना महत्वपूर्ण बन गया है कि इसके अभाव में जनता और देश को, लोकप्रतिनिधियों के अनुचित एवं असंवैधानिक कार्यों से बचाना कठिन हो जाता। जब तक जनता एवं संसद न्यायालय एवं संविधान के ऊपर अपना प्रभुत्व कायम करने की कोशिश करती रहेगी, मौलिक संरचना का

सिद्धान्त संविधान संशोधन की शक्ति पर आवश्यक और अपरिहार्य सीमा के रूप में अपनी शाश्वत उपयोगिता एवं प्रासंगिकता से निखार पाता रहेगा।

आज हम देखते हैं कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय 'कानून की उचित प्रक्रिया' की ओर कदम बढ़ा चुका है। जनहित याचिकाएँ इसी की एक कड़ी के रूप में देखी जा सकती हैं। लोकप्रियता की राजनीति जब सत्ता में बने रहने का सूत्र या माध्यम बन जाय तो ऐसे में सर्वोच्च न्यायालय ने उस पर विचारपूर्वक एक विवेकसम्मत सीमा लगा दी। संविधान संशोधन की शक्ति तथा इसके दुरुपयोग के बारे में न्यायपालिका की चिन्ता को भली-भाँति समझा जा सकता है।

न्यायपालिका द्वारा प्रस्तुत मौलिक संरचना सिद्धान्त एक ऐसा 'लिटमस टेस्ट' है, जिससे होकर ही कोई संविधान संशोधन वैधता प्राप्त कर सकता है। यह सिद्धान्त सर्वोच्च न्यायालय को संविधान निर्मात्री संस्था के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है। आलोचकों ने इसे "न्यायपालिका द्वारा शासन करने की प्रवृत्ति का श्रीगणेश" बताया। न्यायपालिका को तो किसी भी अर्थ में जनता का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। किसी भी जनतान्त्रिक समाज में जनता के प्रतिनिधि ही लोकनीतियों के निर्णायक होते हैं क्योंकि वे वैधानिक रूप से चुन कर आते हैं; न्यायाधीश निर्वाचित नहीं होते। वे जनप्रतिनिधियों की भाँति अपने निर्णयों या कार्यों के लिए उत्तरदायी भी नहीं होते। इसके बावजूद यह देखा गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के प्रकाश में सामान्य कानून और संविधान में संशोधन तक किये गये हैं, जैसे - शिक्षा के अधिकार को सर्वोच्च न्यायालय ने अपने अनेक निर्णयों में[5] मूल अधिकार के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है और इसे 'जीवन के अधिकार' के साथ जोड़कर देखा है, क्योंकि शिक्षा ही किसी बच्चे को उसके राष्ट्र एवं संस्कृति से जोड़ने में मदद करती है और अशिक्षित व्यक्ति का जीवन गरिमामय नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों एवं सामाजिक सरोकारों से अनभिज्ञ होता है। फलतः 86वें संविधान संशोधन, 2002 द्वारा संविधान में अनुच्छेद-21ए जोड़कर संसद ने यह व्यवस्था की कि, "6 से 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करना, उनका मौलिक अधिकार होगा।"

सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णयों में कई बार इस बात की आवश्यकता बतायी कि, जोड़-तोड़ द्वारा सरकार बनाने की प्रवृत्ति ठीक नहीं है, इससे सरकारें अस्थिर होती हैं और वे उत्तम ढंग से काम नहीं कर पाती। यदि मन्त्रिमण्डल की सदस्य संख्या सीमित व निश्चित हो तो इससे दल-बदल तथा राजनीतिक सौदेबाजी को रोकने में मदद मिलेगी। इसे ध्यान में रखकर ही 91वाँ संविधान संशोधन विधेयक 2003, पारित किया गया, जिसके अनुसार, केन्द्र

व राज्यों में क्रमशः प्रधानमन्त्री व मुख्यमन्त्री सहित मन्त्रियों की कुल संख्या निचले सदन में सदस्यों की कुल संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। छोटे राज्यों में, जहाँ विधायकों की संख्या कम है, मन्त्रियों की अधिकतम संख्या 12 होगी। यह कानून जम्मू-कश्मीर में लागू नहीं होगा। दिल्ली के मामले में, विधानसभा की सदस्य संख्या 70 होने के बावजूद राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली अधिनियम, 1983 के अन्तर्गत मन्त्रियों की अधिकतम संख्या सात ही हो सकती है।

इसी प्रकार, यूनियन ऑफ इण्डिया बनाम एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफार्म (2002) तथा पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज़ बनाम भारत संघ (2003) के वाद में सर्वोच्च न्यायालय का जो निर्णय आया, उसके अनुरूप ही जनप्रतिनिधित्व अधिनियम (1951) में संशोधन करके यह अनिवार्य कर दिया गया कि, चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को अपने आपराधिक रिकार्ड, चल-अचल सम्पत्ति, बकायों, शैक्षिक योग्यता आदि के बारे में पूरी जानकारी देनी होगी।

एस.पी. गुप्ता बनाम द यूनियन ऑफ इण्डिया (1982) तथा बॉम्बे इन्वायर्नमेण्टल एक्शन ग्रुप और अन्य बनाम पुणे केण्टोन्मैण्ट बोर्ड आदि के मामलों में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के अनुरूप ही संसद ने सूचना के अधिकार विधेयक (2005) को पारित कर यह कानून बनाया कि, किसी व्यक्ति के जीवन व स्वतन्त्रता से जुड़े मुद्दों पर 48 घण्टों के भीतर सूचना उपलब्ध करानी होगी। ऐसा करना सूचना अधिकारी हेतु बाध्यकारी है, कोई भी सूचना 30 दिन से अधिक समय के लिए टाली नहीं जा सकती। इस विधेयक में गलत या झूठी सूचना देने पर या समय से सूचना न देने पर दण्ड की व्यवस्था है।

अब तक वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण तथा ध्वनि प्रदूषण पर जितने भी कानून बने हैं, उनमें से अधिकांश सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों के अनुपालन में बनाए गए हैं। उपरोक्त उदाहरण तो कुछ नमूने मात्र हैं जहाँ न्यायपालिका ने निर्णय दिया और संसद ने उन निर्णयों के आलोक में कानूनों का निर्माण किया। कहीं हम न्यायिक विधायन (न्यायिक निर्णयों के प्रकाश में कानूनों का निर्माण) के युग में तो प्रवेश नहीं कर रहे हैं? एस.के. अग्रवाल का मत है कि "सर्वोच्च न्यायालय ने जनहित याचिकाओं के माध्यम से अपनी सीमाओं का काफी विस्तार कर लिया है, यह एक प्रकार से न्यायालय द्वारा सम्पूर्ण देश के प्रशासन को चलाने का कार्यपालिकायी अन्दाज़ है।"[6] ऑर्कीबाल्ड कॉक्स ने अपनी पुस्तक *'द रोल ऑफ सुप्रीम कोर्ट इन अमेरिकन गवर्नमेन्ट* तथा *द वैरन कोर्ट- कान्स्टीट्यूशनल डिसीजन ऐज-ऐन इन्स्ट्रूमेन्ट ऑफ*

रिफार्म' में कुछ अति महत्वपूर्ण एवं मूलभूत प्रश्न न्यायपालिका एवं कार्यपालिका के बीच द्वन्द्व के बारे में उठाए हैं। यद्यपि ये प्रश्न अमेरिकी सरकार के बारे में है, लेकिन इन प्रश्नों का परिप्रेक्ष्य एवं इनकी प्रासंगिकता भारत के बारे में भी विचारणीय है –

कॉक्स लिखते हैं कि, क्या न्यायालय के कार्य की सीमाओं का विस्तार उसकी 'वैधता' को प्रभावित नहीं करेगा? क्या इससे वह जनआस्था के केन्द्र से पदच्युत नहीं हो जाएगी? न्यायपालिका के इस कार्यपालिकायी अन्दाज को क्या व्यवस्थापिका सीमा में बाँधने का प्रयास नहीं करेगी?

न्यायपालिका की इस उभरती प्रवृत्ति पर जॉन बेल ने भी तीन कारणों से आपत्ति की है[7] –

1. न्यायिक प्रक्रिया एवं विधायी प्रक्रिया में अन्तर है। विधायी प्रक्रिया में निर्णय निर्माता कानून बनाने के पूर्व व्यापक जाँच करते हैं, वे समाज के विभिन्न हितों एवं विचारों को सुनते हैं, जबकि न्यायाधीश किसी एक विशेष वाद के परिप्रेक्ष्य में निर्णय देते हैं, न कि विभिन्न बाह्य स्रोतों से मिली सूचनाओं एवं तर्कों को आधार बनाते हैं।

२. लोकतंत्र में कानून निर्माण का उचित मंच निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था (अर्थात् संसद) ही हो सकती है क्योंकि यह जनता द्वारा निर्वाचित एवं उसके प्रति उत्तरदायी होती है। न्यायपालिका भविष्य में बनने वाले कानूनों की प्रकृति व स्वरूप के बारे में मानकों का निर्धारण कर सकती है लेकिन वह जनाकांक्षाओं का निर्धारण व उसका प्रतिनिधित्व कदापि नहीं कर सकती। न्यायाधीशगण अपनी शक्तियों के सन्दर्भ में 'अनिर्वाचित अभिजन' होते हैं, इसलिए कानून निर्माण में उनकी भूमिका सर्वोच्च एवं अन्तिम नहीं हो सकती।

३. न्यायाधीश किसी मुकदमे/वाद का निर्णय देते समय कानून की व्याख्या करते हैं और कानून को समयानुसार नवीन अर्थ देते हैं और ये सारे कार्य न केवल अतीत में बनाए गए कानूनों को परखने की कसौटी प्रदान करते हैं, बल्कि भविष्य के कानूनों का स्वरूप भी प्रस्तुत करते हैं, जो कि गलत है क्योंकि इन मामलों में अन्तिम शक्ति संसद के पास होनी चाहिए न कि न्यायपालिका के पास।

आज न्यायपालिका के बढ़ते दावे और दायरे के बीच संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर के ये शब्द महत्वपूर्ण मार्गदर्शन करते हैं – "हम एक राज्य के भीतर न्यायपालिका का राज्य स्थापित नहीं करना चाहते हैं लेकिन हम न्यायपालिका को कार्यपालिका के भय या पक्षपात से

मुक्त करके पूरी स्वतंत्रता देना चाहते हैं....इसके बावजूद भी न्यायिक स्वतंत्रता का सिद्धान्त इतना ऊपर नहीं उठा देना चाहिए कि न्यायपालिका एक उच्च व्यवस्थापिका या कार्यपालिका में बदल जाये। न्यायपालिका का कार्य सिर्फ संविधान की व्याख्या करना या सम्बन्धित पक्षों के अधिकारों के सम्बन्ध में न्यायिक निर्णय देना ही है।"[8]

इस सम्बन्ध में जवाहर लाल नेहरू ने भी संविधान सभा में कहा था कि, "संसद, जो सम्पूर्ण समुदाय की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व कर रही है, कोई भी न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय उसकी सर्वोच्च सत्ता या इच्छा के ऊपर अपने निर्णय नहीं थोप सकता। यदि व्यवस्थापिका कोई गलती करती है तो उसे संकेत किया जा सकता है लेकिन जहाँ तक समुदाय के भविष्य का प्रश्न है, कोई भी न्यायालय संसदीय निर्णय के ऊपर नहीं हो सकता और संविधान भी संसद की ही कृति है। इसके बावजूद भी हम सभी उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय का सम्मान करते हैं....बुद्धिमान लोगों की भांति सर्वोच्च न्यायालय को यह देखना चाहिए कि भावावेश के क्षण में, उत्तेजना के क्षण में, जनता के प्रतिनिधि भी गलत रास्ते पर न चले जांय, क्योंकि वे जा सकते हैं। न्यायालयों के एकांतिक वातावरण में न्यायाधीशों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसा कोई काम न हो जाय जो संविधान के विरुद्ध हो या देश के हित में न हो अथवा व्यापक अर्थों में जनसमुदाय के प्रतिकूल हो। इसलिए यदि ऐसी घटना हो जाय तो उन्हें इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहिए, मगर यह स्पष्ट है कि, कोई न्यायालय या कोई न्याय-व्यवस्था एक तीसरे सदन के रूप में काम नहीं कर सकती, इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि न्यायपालिका इस सीमा के भीतर ही काम करे।"[9]

संविधान निर्माताओं के उपर्युक्त वक्तव्यों के आधार पर प्रसिद्ध विधिवेत्ता श्री एलेक्जेन्ड्रोविच ने भारतीय न्यायपालिका की स्थिति एवं भूमिका पर सटीक टिप्पणी की है - "भारतीय सर्वोच्च न्यायपालिका की संकल्पना एक अतिरिक्त विधि-निर्माता निकाय के रूप में नहीं की गई है, अपितु एक ऐसे निकाय के रूप में की गयी है, जिसका कार्य मात्र अभिव्यक्त विधि (स्थापित विधि अर्थात् संसद द्वारा बनाई गई विधि) को लागू करना है।"[10]

न्यायपालिका की अप्रत्याशित रूप से उभरती हुई शक्तियों की उपरोक्त सशक्त आलोचनाओं के बाद भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि, न्यायपालिका को निरन्तर, परिवर्तित होती सामाजिक आवश्यकताओं एवं सामाजिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में संविधान के प्रावधानों की प्रगतिशील एवं सकारात्मक व्याख्या करनी चाहिए। यह दायित्व संसद का भी है कि वह कानूनों व संवैधानिक प्रावधानों को समयानुकूल अर्थ प्रदान करती रहे, चूँकि

संसद में कानूनों का निर्माण एवं संवैधानिक परिवर्तनों का सूत्रपात कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) द्वारा होता है। अतः उस पर भी समान दायित्व है। इस प्रकार व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका तीनों ही समान रूप से संविधान के प्रति इस दायित्व से बंधे हैं, कोई भी कम या अधिक जिम्मेदार नहीं है। यदि संविधान समयानुकूल नहीं रह जाता या वह असम्मान का शिकार हो जाता है तो इसका दायित्व भी शासन के इन्हीं तीनों अंगों पर समान रूप से होगा। केवल किसी एक अंग पर नहीं।

भारत में शासन का कोई भी अंग हो या हम, भारत के सभी लोग लोकतन्त्र के अधीन हैं और भारतीय लोकतन्त्र का प्राण है – 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया'। यदि यह प्रक्रिया उचित एवं न्यायपूर्ण नहीं हुई तो हमारी लोकतान्त्रिक संस्थाओं के अस्तित्व एवं भविष्य पर प्रश्नचिह्न लग जायेगा। इन्दिरा गाँधी के कार्यकाल में जिस प्रकार से संविधान के प्रावधानों में मनमाने संशोधन किए गए (मुख्य रूप से 39, 40, 41 तथा 42वाँ संविधान संशोधन) और मनमोहन सिंह सरकार के कार्यकाल में 'लाभ के पद' मामले में संसद ने अपने 58 सांसदों को बचाने के लिए जो कानून बनाया है, क्या हम उसे भी 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' की 'मूल भावना' के अनुसार बनाए गए कानून ही कहेंगे? यदि 'विधि' वही है जो संसद में बहुमत प्राप्त दल बनाता है तो इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि, बहुमत सदैव न्यायपूर्ण नहीं होता, कभी-कभी इसके निर्णय स्वार्थ और तात्कालिक राजनीतिक लाभ से भी प्रेरित होते हैं। शाहबानो प्रकरण में न्यायालय के निर्णय को बहुमत दल ने बदल दिया। यदि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के नाम पर मनमाने निर्णय लिए जायेंगे तो संसद (देश की सर्वोच्च पंचायत) की गरिमा धूल-धूसरित हो जाएगी और साथ ही लोकतन्त्र भी अपनी प्रासंगिकता खो देगा। यदि हम लोकतन्त्र को बचाने में असफल रहे तो ऐसी दशा में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की बात नहीं की जा सकती। यद्यपि संविधान निर्माताओं ने सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षक की भूमिका सौंपी है लेकिन अकेले न्यायपालिका ही सबकुछ नहीं कर सकती, क्योंकि उसके निर्णय कार्यपालिका द्वारा ही लागू किए जाते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों में विधायी और संवैधानिक अधिकार अन्तर्निहित रूप से शामिल हैं। इन शक्तियों का प्रयोग करके न्यायालय ने मूलाधिकार तथा प्राकृतिक न्याय के क्षितिज का काफी विस्तार किया है और इस प्रक्रिया में उसने अनेक ऐसे सिद्धान्त प्रस्तुत किए या निर्णय दिए जो संविधान के प्रतिष्ठित और महत्वपूर्ण भाग बन गए। मौलिक संरचना सिद्धान्त इसी प्रकार की एक व्यवस्था है। न्यायाधीश पी.एन. भगवती इसे 'संविधान की सकारात्मक व्याख्या का उत्तरदायित्व' मानते हैं। वे न्यायाधीशों की तीन भूमिकाएँ या कर्त्तव्य मानते हैं -

1. न्यायाधीशों की प्रशासनिक शक्तियाँ तथा इसके अन्तर्गत मिले अधिकारों का क्रियान्वयन करना।

2. न्यायालय द्वारा यह देखना कि, राज्य कानून निर्माण सम्बन्धी शक्तियों का कहीं दुरुपयोग तो नहीं कर रहा है या अपनी सीमा से आगे जाकर तो विधायन नहीं कर रहा है, क्योंकि संघात्मक राज्य में शक्तियों का विभाजन होता है और इस परिप्रेक्ष्य में सर्वोच्च न्यायालय को संरक्षक की स्थिति प्राप्त है,[11] और,

3. न्यायालय द्वारा संविधान के उपबन्धों की प्रगतिशील व सकारात्मक व्याख्या करते हुए संविधान को समयानुकूल बनाये रखना।

वस्तुतः न्यायालय केवल संविधान की तथ्यसम्मत व्याख्या ही नहीं करता, बल्कि पूरे संविधान को एक आंगिक-प्रपत्र के रूप में देखता है जो जनता की आशाओं, अपेक्षाओं की प्रतिमूर्ति है। न्यायाधीश पी.एन. भगवती के अनुसार, यद्यपि संविधान निर्माताओं ने 'विधि की उचित प्रक्रिया' का सिद्धान्त भारत में लागू नहीं किया है तथापि वर्तमान समय में संवैधानिक मूल्यों की रक्षा के लिए यह अपरिहार्य है। मेनका गाँधी वाद में अनुच्छेद-21 की व्याख्या करते हुए न्यायाधीश भगवती ने सकारात्मक अधिकारों की एक लम्बी शृंखला प्रस्तुत की है। ये सकारात्मक अधिकार व्यक्ति की गरिमा तथा मानवीय मूल्यों/आदर्शों से जुड़े हुए हैं, जिनसे न्यायाधीशगण बच नहीं सकते। ऐसे वाद में न केवल कानूनों का निर्माण (न्यायिक विधायन) होता है, बल्कि संवैधानिक प्रावधान भी एक नया सन्दर्भ प्राप्त करते हैं। ऐसा करते समय न्यायाधीशों की भूमिका भी 'ज्यूडिशियल स्टेट्समैन' की भाँति हो जाती है। उन्हें समाज की आकांक्षाओं, जनता की आवश्यकताओं और समय की गति व दिशा को ध्यान में रखना होता है। ऐसा करते समय वे संविधान द्वारा निर्धारित स्वतन्त्रता की सीमाओं को व्यापक तथा समयानुकूल बनाते हैं। आज न्यायालय 'युगधर्म' निभाते हुए मौलिक अधिकारों तथा नीति निदेशक तत्वों पर साथ-साथ विचार करने लगा है, जिससे संविधान के भाग-3 (मौलिक अधिकार) को एक नवीन दिशा मिल गई है। आज न्यायालय भी यह मानने लगा है कि, मूलाधिकारों तथा मानवाधिकारों का अनुपालन सुनिश्चित कराना तथा समाज से विषमताओं का उन्मूलन करना उसका भी दायित्व है, क्योंकि वह भी शासन/व्यवस्था का एक अंग है।[12]

यह प्रवृत्तियाँ विधायिका की स्वच्छन्दता तथा कार्यपालिका की अकर्मण्यता पर एक सामयिक, सकारात्मक एवं संवैधानिक रूप से आवश्यक नियन्त्रण हैं।

भारतीय संविधान राज्य को 'लोककल्याणकारी एवं लोकतान्त्रिक' स्वरूप देता है, अतः राज्य का प्रत्येक अंग स्वयं को लोकतान्त्रिक एवं लोकल्याणकारी स्वरूप देने के लिए संविधान द्वारा आबद्ध-प्रतिबद्ध है, ऐसे में यदि न्यायपालिका आगे बढ़कर लोककल्याण से जुड़े मुद्दों पर अपनी राय स्पष्ट करती है या जनहित से जुड़े विषयों पर कानून बनाने को दृढ़ता से कहती है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि संसद की शक्ति हो या संविधान की गरिमा अथवा सर्वोच्च न्यायालय का 'दायित्व बोध' - सभी जनहित के दायरे से बँधे हुए हैं। आज भारतीय संविधान की कल्याणकारी अवधारणा में व्यक्ति की गरिमा एवं राष्ट्र की अखण्डता प्रचुर महत्व प्राप्त कर रही है। इन दशाओं में यह स्वीकार किया जा चुका है कि लिखित संविधान होने के कारण संसद की संविधान संशोधन की शक्ति अनियन्त्रित एवं असीमित नहीं है, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय ने 'संसद की संविधान संशोधन की सीमित शक्ति' को संविधान का मौलिक/संरचना ढाँचा माना है। आज संसद की संशोधन शक्ति को सीमित दायरे में बाँधकर सर्वोच्च न्यायालय अपने न्यायिक निर्वचनों/व्याख्याओं के माध्यम से 'कानून की उचित प्रक्रिया' की ओर परिवर्तनोन्मुख है।

### सन्दर्भ


1. खन्ना, हंसराज, **अदालती पुनरीक्षण या संसद से टकराव**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1977 पृ. 22.
2. केशवानन्द भारती, श्री पदगालवरू और कुछ अन्य बनाम केरल राज्य और कुछ अन्य, एआयआर, 1973.
3. केशवानन्द भारती वाद, टिप्पणी - 16, पृ. 844.
4. **संविधान निर्मात्री सभा वाद-विवाद**, जिल्द 9, पृ. 1195-96.
5. मद्रास हाइड्रो प्रोजेक्ट बनाम जम्मू-कश्मीर, एआयआर, 1984, एससी 177.
6. एस.के. त्रिपाठी, **पब्लिक इन्ट्रेस्ट लिटिगेशन इन इण्डियाः ए क्रिटिक**, एन.एम. त्रिपाठी पब्लिकेशन, मुम्बई, 1985, पृ. 16.
7. जॉन बेल, **पॉलिसी आरग्यूमेण्ट्स इन ज्यूडिशियल डिसीजन,** क्लैरेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1983, पृ. 3.
8. **संविधान निर्मात्री सभा, वाद-विवाद,** खण्ड - 11, पृ. 837.

9. **संविधान निर्मात्री सभा, वाद-विवाद**, खण्ड - 9, पृ. 1195-1196.

10. सी.एच. एलेक्जेन्ड्रोविच, **कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेण्ट इन इण्डिया**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बाम्बे, 1957 पृ. 231.

11. अनुच्छेद-131 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय (अपने प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत), केन्द्र राज्य या राज्यों के बीच उठने वाले विवादों का एकमात्र समाधानकर्त्ता है।

12. वर्ष 2008 में राजस्थान में हुए गुर्जर आन्दोलन ने जब हिंसात्मक रूप धारण कर लिया तथा एक प्रकार से अराजकता फैल गई और कानून व्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं रह गयी तो सर्वोच्च न्यायालय ने समस्त मामले को 'स्वयं संज्ञान' में लेकर सरकार से पूछा था कि इस आन्दोलन को रोकने के लिए अब तक क्या उपाय किये गये हैं? अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय स्वयं आगे आकर जन-धन की हानि रोकने के लिए तैयार हो गया।